

लोकसंग्रह : दिव्य पुरुष का कर्म

Dr. Ranjeet kumar kushwaha*

श्रीमद्भगवद्गीता में सद्गुणी अवस्था (स्थितप्रज्ञ) को प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण प्रेरित करते हैं तथा उसकी प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्ग का निर्देश करते हैं। परंतु गीता के भाष्यकारों के मध्य इस बात को लेकर विवाद है कि क्या ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद स्थितप्रज्ञ पुरुष को कर्म सम्पादन में प्रवृत्त होना चाहिए ? अथवा योगी को स्रष्ट के सारे व्यवहार को निरर्थक और ज्ञान के विरुद्ध मानकर पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए। तर्कदृष्टि से दो पक्ष संभव है या तो योगी कर्मों का पूर्णतः त्याग कर दे (कर्मसंन्यास) या वही कर्म निष्काम बुद्धि से आजीवन करता रहे (कर्मयोग)। इस संबंध में गीता मिलिजुली बातें कहती हैं, जैसे—पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् कर्म करें या न करें दोनों एक समान हैं¹ क्योंकि समस्त व्यवहार में कर्म की तुलना में बुद्धि श्रेष्ठ होने के कारण ज्ञान के द्वारा जिसकी बुद्धि समस्त भूतों के प्रति सम हो जाए उसे किसी भी कर्म के शुभ—अशुभ का प्रभाव नहीं पड़ता² फिर अर्जुन को श्रीकृष्ण स्पष्ट आदेश देते हैं युद्धस्व! तुम युद्ध ही करो।

श्रीकृष्ण इतनी कुशलता से समन्वय करते हैं कि अर्जुन की उलझनें और बढ़ जाती हैं और वह निर्णय नहीं कर पाता है कि स्थितप्रज्ञ का आचरण कैसा हो—प्रवृत्ति का या निवृत्ति का? इस कारण अर्जुन पाँचवें अध्याय के आरंभ में ही प्रश्न उठाता है, इन दोनों मार्गों की मिलावट न करते हुए इन दोनों में से अधिक श्रेष्ठ कौन सा मार्ग है, वह एक ही मुझसे निश्चयपूर्वक कहें³। कर्म करना यदि श्रेष्ठ है तो मुझे उसका कारण बताएँ, फिर मैं आपके कहे अनुसार कर्म करूँगा। पुनः श्रीकृष्ण दोनों मार्गों को उत्तम बताते हैं परंतु इस बार कर्म के रहस्य को उद्घाटित करते हैं और निष्काम कर्म को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। वे कहते हैं कि कर्म के परित्याग से निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, वे कहते हैं निर्द्वन्द्व हो जाओ, कर्म करो, परंतु कर्मफल की न तो कामना करो, न कर्म फल से घृणा करो। जो पुरुष इस अवस्था को उपलब्ध हो गया, समझो भव बन्धन को पार कर गया।⁴ वस्तुतः बन्धन के हेतु कर्म नहीं हैं, कर्म का गुणधर्म बन्धन उत्पन्न करना ही नहीं, बन्धन उत्पन्न होते हैं मन से⁵ मन का विस्तार ही संसार है। जिस पुरुष का मन और इन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं वह विषयों का अविच्छिन्न चिंतन करता है, भोग के लिए लालयित रहता है और इसी ध्येय से कर्म करता है। फलतः इस मनःस्थिति से उत्पन्न कर्म बंधनकारी

होते हैं। कृष्ण का कहना है “जो विशुद्ध आत्मा है वह अपने मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है और ऐसे व्यक्ति जो कर्म करता है वह कभी बंधन में नहीं बंधता”⁶। सद्गुणी पुरुष कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करके आसक्तिरहित होकर शरीर, मन, इन्द्रियों के द्वारा भी केवल शुद्धि के लिए कर्म करता है। इस संदर्भ में तिलक का मत अत्यंत ही प्रासंगिक है। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् कर्मसंन्यास करना अथवा कर्मयोग को स्वीकार करना ये दोनों मार्ग मोक्ष की दृष्टि से एक योग्यता के होने के उपरांत भी लोकव्यवहार की दृष्टि से विचार करें तो संन्यास बुद्धि में रखकर यानी निष्काम बुद्धि से इन्द्रियों के द्वारा आजीवन लोकसंग्रहकारक कर्म करते रहना, यह मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। कारण, संन्यास और कर्म इन दोनों का उसमें समावेश हो जाता है, ऐसा भगवान का निश्चित उपदेश है। इसी के अनुसार फिर अर्जुन युद्ध को प्रवृत्त हुआ है। शरीर और इन्द्रिय द्वारा होने वाला कर्म तो दोनों का एक ही होगा, परंतु अज्ञानी उसे आसक्त बुद्धि से और ज्ञानी अनासक्त बुद्धि से करता है।⁷

कर्मसंन्यास और कर्मयोग के प्रतिनिधि प्रवक्ता क्रमशः शंकर और तिलक हैं। इनके संबंध में यहाँ चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगा। शंकर और तिलक के बीच असली मतभेद प्रवृत्ति और निवृत्ति के संबंध में ही है। दोनों इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के बाद भी पुरुष को कर्म सम्पादन में प्रवृत्त होना चाहिए ? निवृत्तिमार्गी शंकर की मान्यता है कि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि के बाद ज्ञानी के लिए कर्म सम्पादन आवश्यक नहीं हैं। उसे कर्मों से संन्यास ले लेना चाहिए। प्रवृत्ति मार्गी तिलक की मान्यता है कि आत्मज्ञानी को कभी भी कर्म से संन्यास नहीं लेना चाहिए। संन्यास मार्ग गीता के उपदेश के अनुकूल नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को बार—बार कहते हैं— ‘माम् स्मान युध्य च’ यानी मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। इतना ही नहीं श्रीकृष्ण लोकसंग्रह के लिए भी ज्ञानियों को अज्ञानियों की तरह तन्मयता से कर्म करने का उपदेश करते हैं। श्रेष्ठजन समाज के आदर्श होते हैं। श्रेष्ठजन जो कुछ भी करते हैं, सामान्यजन उनका ही अनुसरण करते हैं। जिसे वह प्रमाणित कर देता है, समाज के हित में उपयोगी सिद्ध कर देता है, लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं⁸। श्रीकृष्ण स्वयं ब्रह्म हैं, वे आप्तकाम हैं, फिर भी लोकसंग्रह के लिए वे अहर्निश कर्मपरायण हैं। इस दृष्टि से तिलक का विचार तर्कसंगत और प्रासंगिक प्रतीत होता है।

लोकसंग्रह की विवेचना गीता में कर्मयोग के संदर्भ में ही की गई है। लेकिन यह एक बहुआयामी सिद्धांत है। लोकसंग्रह में दो शब्द हैं— लोक और संग्रह। लोक का अर्थ होता है— सम्पूर्ण भू लोक जिसमें मनुष्य, पशु—पक्षी एवं जडतत्त्व सभी सम्मिलित हैं। संग्रह का विपरीतार्थक शब्द विग्रह होता है जिसका

तात्पर्य विखंडन करना या अस्थिर करना होता है। अतः लोकसंग्रह का तात्पर्य प्रकृति के संतुलन या लोकव्यवस्था को यथास्थिति बनाये रखना है। निःस्वार्थभाव से लोकव्यवस्था के लिए चेष्टा की जाए तो बुद्धि स्वतः समत्व को प्राप्त कर लेगी। लोकसंग्रह धर्म का पालन करने वाले महापुरुषों के संबंध में गीता कहती है कि वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत होते हैं (सर्वभूतहिते रताः)⁹ और सब में समान भाव वाले होते हैं (सर्वत्र समबुद्धयः)¹⁰ अर्थात् समदर्शी होते हैं। लोकसंग्रही महापुरुष तो लोक समत्व का इतना पालन करते हैं कि उनके विचार एवं आचार से इस लोक का कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है। वह समत्वबुद्धि का प्रतिमान होता है जो सभी प्राणियों के प्रति अद्वेष भाव रखता है; सबके साथ मैत्री भावना रखता है, सबके प्रति दयालु होता है। वह निरहंकारी और अपराधी को भी अभयदान देने वाला होता है। गीता में कहा गया है कि—

अद्वेषता सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।¹¹

गीता में वर्णित लोकसंग्रह के स्वरूप की व्याख्या विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ढंग से की है। लेकिन लोकसंग्रह का मुख्य तात्पर्य लोक की प्राकृत व्यवस्था को बनाए रखना है; उसके प्रमुख तन्तुओं को सुरक्षित रखना है। लोकसंग्रह के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि, हे अर्जुन। इन तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य (करणीय कर्म) नहीं है, क्योंकि न तो मुझे कुछ अप्राप्त है और न ही कुछ प्राप्त करना है। मैं पूर्णरूपेण आप्तकाम हूँ। फिर भी मैं लोक कल्याण के लिए आलस्य रहित होकर (अतिन्द्रितः) कर्म में लगा रहता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ; अपने स्वरूप में निश्चित होकर अवस्थित बना रहूँ तो सांसारिक मनुष्य मेरा ही अनुसरण करके निष्क्रिय हो जाएँगे।¹² श्रीकृष्ण उत्तम कोटि के मनोवैज्ञानिक हैं। वे मन के स्वभाव को भलीभांति जानते हैं। महापुरुषों के दोषों को देखना और उन दोषों का ही अनुसरण करना मानव मन का स्वभाव है। श्रीकृष्ण लोकहित में कर्म करने के महत्त्व को बताने के लिए जनकादि महापुरुषों का उदाहरण देते हैं। जनक परम ज्ञानी थे, फिर भी वे आजीवन राज्य-काज की क्रियाओं में संलग्न रहे यहाँ श्रीकृष्ण स्वयं का और जनकादि महापुरुषों की कर्मपरायणता के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि जो योगयुक्त है उन्हें भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिए। परार्थ के लिए किए गए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। यह सद्गुणी व्यक्ति की मूल लक्षण है, उसका समस्त कार्य परार्थमूलक होता है।

श्रीकृष्ण लोकसंग्रह के संदर्भ में समाज के श्रेष्ठ जनों की महती भूमिका बताते हुए कहते हैं कि “श्रेष्ठ जो कुछ करता है, समाज के अन्य जन भी उसी का अनुसरण करते हैं। जिसे वह आदर्श के रूप में प्रमाणित कर देता है, लोग उसी

को प्रमाण मानकर चलते हैं”।¹³ इसलिए श्रीकृष्ण विद्वान् यानी बुद्धियुक्त महापुरुषों को यह संदेश देते हैं कि कर्म में आसक्त होकर अज्ञानीजन जिस तीव्रता और उत्साह से सकाम कर्म करते हैं, उसी तीव्रता एवं तल्लीनता के साथ अनासक्त भाव से लोक कल्याण के लिए ज्ञानीजन भी काम करें।¹⁴ श्रीकृष्ण लोक शिक्षा के लिए प्रभावी विधि भी बतलाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को अज्ञानियों के बीच निष्काम कर्मयोग का उपदेश नहीं करना है, अज्ञानियों के बीच बुद्धि-भेद नहीं पैदा करना है। ज्ञानियों को चाहिए कि वे अपने वचन से नहीं, बल्कि अपने आचरण से अज्ञानियों को लोककल्याण की दिशा में कर्म करने के लिए प्रेरित करें।¹⁵ श्रीकृष्ण जानते हैं कि आचरण ही समत्व बुद्धि की अभिव्यक्ति है। तिलक का स्पष्ट कहना है कि किसी भी व्यक्ति की शुद्धबुद्धि की परीक्षा प्रथमतः उसके वाह्य आचरण से होता है।¹⁶

जिस व्यक्ति की व्यावसायात्मिकता बुद्धि इन्द्रिय निग्रह से स्थिर होकर “समस्त भूतों में एक ही आत्मा” यह साम्य पहचानने में समर्थ हो गयी उसकी वासना भी शुद्ध होनी चाहिए और वासनात्मक बुद्धि इस तरह पवित्र, सम और शुद्ध हो जाने पर उसके द्वारा कोई भी दुर्गुणी, पापमूलक आचरण असंभव हो जाता है। ऐसे सद्गुणी पुरुष के समस्त कर्म मोक्षानुकूल ही होते हैं। यह सिद्धावस्था प्राप्त करना अत्यंत कठिन है परंतु एक बार इसे प्राप्त कर लेने पर नीतिशास्त्र या आचरण शास्त्र का कोई भी सिद्धांत इसके लिए कसौटी नहीं रह जाता। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति पूर्णवस्था को प्राप्त हो गया है या नहीं परंतु किसी रीति से उसके पूर्णत्व की सिद्धि हो जाने पर उसके आचरण के संबंध में अध्यात्मशास्त्र के नियम को लागू करना निरर्थक है। यह ठीक ऐसे ही होगा जैसे स्वयंप्रकाशी सूर्य को दीया दिखाना। सृष्टिकर्ता परमेश्वर जिस प्रकार सारे कर्म करते हुए भी पाप पुण्य से अलिप्त रहता है उसी प्रकार ब्रह्मभूत हो चुके साधु पुरुषों की स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप होती है।¹⁷ वस्तुतः सद्गुणी पुरुष का आचरण किसी तय आचारशास्त्रीय मापदण्ड के अनुसार नहीं होता बल्कि इनके आचरण अन्य व्यक्तियों या समाज के लिए आचरण की कसौटी बन जाते हैं। सामान्यतः बाहर से इनके आचरण लोक के विपरीत एवं बेढंगी मालूम होती है परंतु उनमें एक गहरा आंतरिक अनुशासन होता है। सामान्य मनुष्य का अनुशासन लोभ और भय पर टिका होता है परंतु सिद्ध पुरुष का आचरण उसके शुद्ध सम और पवित्र बुद्धि से। इनके आन्तरिक चरित्र और वाह्य व्यवहार में तारतम्यता होती है।

ओशो के शब्दों में, “जिस व्यक्ति के भीतर जीवन में सत्य की किरणें फैल जाती हैं, जिसकी आंतरिक चेतना पूर्ण जागृति को उपलब्ध हो जाती है, उसका जीवन सहज हो जाता है, सहज स्फूर्त हो जाता है। उसके जीवन में कोई ढाँचा,

कोई बंधी बंधाई रेखाएँ नहीं होतीं। उस व्यक्ति का जीवन गंगा की तरह भागता हुआ, स्वतंत्रता से भरा हुआ जीवन होता है। लेकिन उसके ढाँचे रहितता में भी एक गहरी आंतरिक व्यवस्था होती है”।¹⁸ ऐसे सद्गुणी व्यक्ति का अन्तःकरण जीवंत होता है वह प्रतिक्षण जीवन के प्रति हुई संवेदना से जगत् में प्रतिक्रिया करता है। इसलिए एक ही प्रश्न एक ही स्थिति के प्रति इनकी प्रतिक्रिया विभिन्न समय में हमेशा नवीन होती है। फलस्वरूप उनमें वाह्यतः एक अनुशासन दिखाई नहीं देता परंतु गहरे में अनुशासन विद्यमान रहता है।

अतः मेरा मानना है कि लोकसंग्रह के वर्णन के क्रम में गीता में वस्तुतः सद्गुणी पुरुष के अन्यों के प्रति, समाज के प्रति एवं जगत् के प्रति आचरण का विश्लेषण किया गया है। प्रथमतः सद्गुणी पुरुष कर्म को त्यागते नहीं बल्कि कर्मफल का त्याग करते हैं। दूसरा 'इनका कर्म मानवकल्याण हेतु, परार्थ हेतु समर्पित होता है। तीसरे इनके कर्म किसी शास्त्र के आधार पर नहीं बल्कि इनके द्वारा व्यक्त आचरण ही जगत् के लिए नैतिक आचरण की कसौटी होती है। चौथे, इनका आचरण लोभ और भय के कारण नहीं बल्कि शुद्ध आन्तरिक चरित्र के वाह्य अभिव्यक्ति हैं। इनका अन्तःकरण इतना सम, निर्मल और पवित्र होता है कि इससे अभिप्रेत कोई भी कर्म बंधन में नहीं ले जाता बल्कि मोक्षानुकूल ही होता है।

संदर्भ सूची

1. गीता, 3/18
2. गीता, 4/20,21
3. गीता] 5/01
4. गीता, 5/02,03
5. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, गीता रहस्य, पृ०सं० 288
6. गीता, 5/07
7. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, गीता रहस्य, पृ०सं० 235
8. गीता, 3/21
9. गीता, 5/25
10. गीता, 12/04
11. गीता, 12/13
12. गीता, 3/22,23
13. गीता, 3/21
14. गीता, 3/25
15. गीता, 3/26

16. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, गीता रहस्य, पृ०सं० 283
17. वही, पृ०सं० 284
18. ओषो, गीता दर्शन, दिव्यांश पब्लिकेशन, भाग-01 पृ०सं० 241
